परोपदेश कुशल बहुतेरे-
जे आचरही ते नर न घनेरे

लेखक :

वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव

28वां शिविर के शुभारंभ के लिये आ. कनकनन्दी ससंघ को अनुरोध करते जयन्तीलाल सेठ (समाज के अध्यक्ष)

परोपदेश कुशल बहुतेरे- जे आचरही ते नर न घनेरे

-: लेखक :-

वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनन्दी जी

-:प्रकाशक:-

धर्मदर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बडौत)

धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर)

धर्म दर्शन विज्ञान शोध एवं सेवा संस्थान (उदयपुर)-शाखा-सागवाडा

-: मुद्रक :-

सीमा प्रिन्टर्स, उदयपुर

फोन : 0294-3295406

परोपदेश कुशल बहुतेरे-
जे आचरही ते नर न घनेरे

पुण्य-स्मरण

28 वाँ धर्म दर्शन विज्ञान विज्ञान प्रशिक्षण शिविर एवं ग्रंथ विमोचन-
गलियाकोट पुनर्वास कॉलोनी, सागवाडा
जिला डूंगरपुर (राज.)
दिनांक : 24 से 31 दिसम्बर 2006

लेखक:- वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनन्दी जी

ग्रन्थांक 163
प्रथम संस्करण = 2000
मुल्य = 10/-रुपये (पुनः प्रकाशनार्थे)
मुखपृष्ठ एवं मुद्रांकन :- *मुनि तीर्थनन्दी*
आजीवन सदस्य - श्री विमल कुमार सेठ, श्री वीरेन्द्र जैन
वार्षिक सदस्य- रमण लाल जी गोदावत, श्री बाबु लाल बोहरा, श्री जयन्ति लाल सेठ, श्री यशवंत जैन, श्री दिनेश जांगा, श्री दर्पण जैन, डॉ. अरविन्द जैन, श्री तेजपाल जैन, श्री खुशपाल गांधी, श्री राजेश जैन, श्री नगीन जैन, श्री महावीर जैन।

अध्याय-1

परोपदेश कुशल बहुतेरे -
जे आचरही ते नर न घनेरे

(सदुपदेशी तथा पर-वचनी)

तीर्थंकर भगवान् जन्मतः 3 ज्ञान के धारी होते हैं तथा दीक्षा लेते ही उन्हें 4 ज्ञान के साथ-साथ 64 ऋद्धियों की प्राप्ति हो जाती है। तथापि वे तब तक उपदेश नहीं देते हैं जब तक कि उन्हें अनन्त केवलज्ञान के साथ-साथ अनन्त दर्शन, सुख, वीर्य की उपलब्धि नहीं हो जाती है। इतना ही नहीं मोक्ष प्राप्ति के पूर्व वे उपदेश के साथ -साथ सूक्ष्म मन-वचन-काय के योग/कम्पन को भी निरोध करते हैं। तीर्थंकर या केवली भगवान् का जब उपदेश होता है तब 4 ज्ञान एवं 64 ऋद्धि सम्पन्न गणधर भी उस उपदेश को ध्यान से भक्ति पूर्वक ग्रहण करते हैं परन्तु वे भी उस समय उपदेश नहीं करते हैं। केवली भगवान् के वचन/उपदेश को ही प्रवचन (प्र+वचन= प्रकृष्ट वचन) कहा जाता है तो गणधर के वचन को प्रवचनसम कहा जाता है। क्योंकि केवली भगवान् सर्वज्ञ, निर्दोष, हितोपदेशी होने के कारण

उनका वचन प्रवचन है और उस प्रवचनानुसार गणधर देव दूसरे श्रोताओं को उपदेश देते हैं इसलिए उनका वचन प्रवचनसम है। इसके अनुसार अन्य आचार्य उपदेश देते हैं। उपाध्याय मुख्यत: साधुओं को अध्यापन कराते हैं। साधु/मुनि मौन एवं विनम्रता पूर्वक ध्यान-अध्ययन में रत रहते हैं। आगम से यह भी ज्ञात होता है कि बडे/प्रबुद्ध/ज्ञानी गुरू (आचार्य-उपाध्याय, ज्येष्ट-श्रेष्ठ श्रमण) की उपस्थिति में अन्य श्रमण भी उपदेश, नियम-व्रत आदि प्रदान नहीं करते हैं। हाँ! गुरू की आज्ञा से उपदेश आदि प्रदान करने का विधान है। योग्यता, विनम्रता, मर्यादा, अनुशासन आदि इस के कारण हैं। इनके अतिरिक्त धर्म-उपदेश के लिए गृहस्थ श्रावक, पंण्डित आदि को अयोग्य माना गया हैं। कारण कि धर्म उपदेश के लिए जो संयम साधना, ज्ञान, अनुभव, त्याग, विरक्ति, निर्लोभता, समता आदि आवश्यक गुण हैं वे सब गुण इन में नहीं होते हैं। कथंचित् आगम-अनुकूल, सत्य-तथ्य का प्रतिपादन यदि ऐसे व्यक्ति करते हैं तो उन्हें प्रवचनकार/उपदेशक न मानकर व्याख्याकार/भाषण कर्ता मानना चाहिए। सदुपदेशी आचार्य के अनेक विशेषतायें होती हैं। इन विशेषताओं से युक्त आचार्य ही धर्मोपदेश करने के योग्य होते हैं। अन्यथा योग्य नहीं हो सकते। धर्मोपदेशी आचार्य की विशेषताओं का वर्णन पूर्वाचार्यों ने निम्न प्रकार से किया हैं ।

प्राज्ञ:प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदय: प्रव्यक्तलोकस्थिति:,
प्रास्ताश: प्रतिभापर प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तर: ।
प्राय: प्रश्नसह: प्रभु: परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधि: प्रस्पष्टमिष्टाक्षर: ॥

5 आत्मानु.

धर्मकथा कहने वाले गणनायक आचार्य (गणी) में निम्न गुण होना चाहिए:-1) वह बुद्धिमान होना चाहिए क्योंकि बुद्धि हीन में वक्तापना सम्भव नहीं है। 2) वह समस्त शास्त्रों के रहस्य का जानकार होना चाहिए क्योंकि शास्त्रों के सांगोपाँग ज्ञान बिना यथार्थ अर्थ भासित नहीं होता। 3) वह लोक-व्यवहार का ज्ञाता होना चाहिए, क्योंकि लोक-रीति के ज्ञान बिना वह लोक-विरूद्ध वर्तन करेंगे। 4) वह आशावान (महत्वकाँक्षी) नहीं होना चाहिए क्योंकि आशावान होने पर वह श्रोताओं का मनोरंजन करना चाहेगा, यथार्थ अर्थ का प्ररूपण नहीं करेंगे। 5) वह कान्तिमान और प्रतिभाशाली होना चाहिए, क्योंकि शोभायमान न होने पर यह महान् कार्य उसे शोभा नहीं देता है। 6) वह उपशम परिणाम वाला होना चाहिए, क्योंकि तीव्र कषाय व्यक्ति सब के लिए अनिष्टकारी और निन्दा का स्थान होगा। 7) वह श्रोताओं द्वारा प्रश्न करने के पहले ही उत्तर का जानकार होना चाहिए, क्योंकि स्वयं ही प्रश्नोत्तर करके समाधान

करने से श्रोताओं को उपदेश में दृढ़ता होगी। 8) वह प्रचुर प्रश्नों को सहने की क्षमता वाला होना चाहिए, क्योंकि यदि वह प्रश्न करने पर नाराज होगा तो श्रोता प्रश्न नही करेंगे तो उनका सन्देह दूर कैसे होगा? 9) वह प्रभुता सहित होना चाहिए, क्योंकि श्रोता उसे अपने से ऊँचा जानेंगे, तभी उसका कहना मानेंगे। 10) वह दूसरों का मन हरने वाला (उन्हें अच्छा लगने वाला) होना चाहिए क्योंकि जो असुहावना लगे उसकी शिक्षा को श्रोता कैसे मानेंगे? 11) वह गुणों का निधान होना चाहिए, क्योंकि गुणों के बिना गणनायकपना शोभा नहीं देता। 12) वह स्पष्ट और मिष्ट वचन कहने वाला होना चाहिए, क्योंकि स्पष्ट वचन कहे बिना लोग समझेंगे नहीं और मिष्ट वचन कहे बिना श्रोताओं को सुनने की रूचि नहीं होगी। जिसमें उक्त गुण हो वही शास्त्र कहने का अधिकारी हो सकता है।

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने,
परणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा,
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरूः सताम्॥ 6

जिसमें निम्नोक्त गुण हो वह यतिपति-आचार्य सत्पुरूषों को उपदेश देने वाले गुरू होते हैं। 1) सम्पूर्ण सन्देह रहित शास्त्र-ज्ञान हो। 2) शुद्ध, निर्दोष और यथायोग्य मन-वचन-काय की प्रवृति हो। 3) दूसरों को सम्बोधित करने की भावना हो। 4) जिन-मार्ग का प्रर्वतन करने की भली (यथार्थ) विधि में भला उद्यम करने वाला हो। 5) ज्ञानीजनों द्वारा जिसे नमन (सम्मानित) किया जाता हो तथा जो विशेष ज्ञानियों को विनयभाव से नमन करता हो। 6) उद्धतपना तथा भयवान न हो। 7) लोकरीति का ज्ञाता हो। 8) कोमलता सहित हो। 9) वाञ्छा रहित हो। 10) यतीश्वर सम्बन्धी अन्य गुण भी हो।

कश्चिद् भव्यःप्रत्यासन्ननिष्ठ प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुविविक्ते परमरम्ये भव्यसत्वविश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषन्मध्ये संनिषण्णं मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गवपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमायर्निषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छति स्म। भगवन्, किं नु खलु आत्मने हितं स्यादिति? स आह मोक्ष इति।स एव पुनः प्रत्याह-किंस्वरूपोऽसौमोक्षः कश्चास्य प्राप्त्युपाय इति ?

आचार्य आह-

निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविक्ज्ञानादिगुणमव्याबाध सुखमात्यन्तिकमवस्थारान्तरं मोक्ष इति।

अपने हित को चाहने वाला कोई एक बुद्धिमान् निकट भव्य

था। वह अत्यन्त रमणीय भव्य जीवों के विश्राम के योग्य किसी एकान्त आश्रम में गया। वहाँ उसने मुनियों की सभा में बैठे हुए वचन बोले बिना ही मात्र अपने शरीर की आकृति से मानों मूर्तिमान् मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले, युक्ति तथा आगम में कुशल, दूसरे जीवों के हित का मुख्यरूप से प्रतिपादन करने वाले और आर्य पुरूषों के द्वारा सेवनीय प्रधान निर्ग्रन्थ आचार्य के पास जाकर विनय के साथ पूछा-भगवन् ! आत्मा का हित क्या है ? आचार्य ने उत्तर दिया- आत्मा का हित मोक्ष है। भव्य ने फिर पूछा-मोक्ष का क्या स्वरूप है और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? आचार्य ने कहा- 'जब आत्मा भाव कर्म द्रव्यकर्ममल कलंक और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुख रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं।'

उपर्युक्त गुणों से रहित उपदेशक वस्तुतः उपदेशक न होकर पर-वचनकार/वाचाल, परोपदेश, पाण्डित्य-प्रदर्शन, अनर्गल-प्रलापक, **दूसरों को ठगो मक्कारी से, रोटी खाओ घी शक्कर से** '' ''रिक्ताचना बाजे घना,'' ''अधभरी घघरी छलकत जाये, भरी घघरी चुपक्रत जाये'' आदि उक्ति को चरितार्थ करते हैं। यथा-

जनाघनाश्च वाचाला: सुलभा:स्युर्वृथोत्थिता: ।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षव: ॥ 4

खोटा उपदेश देने वाले और निरर्थक महन्तता से उद्धत मनुष्य तथा व्यर्थ गरजने वाले निरर्थक मेघ सुलभ हैं; परन्तु अन्तरंग में धर्म बुद्धि से भीगे हुए तथा संसार के दु:खों से जीवों का उद्धार करने की इच्छा वाले मनुष्य तथा अन्तरंग में जल से भीगे हुए और अन्न उत्पादन करके लोक का उपकार करने में कारणभूत मेघ दुर्लभ हैं। उपर्युक्त वर्णन से यह रहस्योद्घाटित होता है कि जिस प्रकार दीपक पहले स्वयं प्रकाशित होता है उसके अनन्तर दूसरों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार महान् पुरूष सर्व प्रथम स्वयं को आदर्शमय/धर्म स्वरूप बनाते हैं उसके अनन्तर दूसरों को उपदेश देते हैं या सहज रूप में दूसरे उनसे उपदेश/प्रेरणा प्राप्त करते हैं। विश्व साहित्य से ज्ञात होता है कि तीर्थंकर भगवान्, महात्माबुद्ध, ईसा मसीह, ऋषि, मुनि, महात्मा, धर्मप्रचारक आदि सर्वप्रथम स्वयं को योग्य/आदर्श बनाते हैं उसके अनन्तर धर्म प्रचार करते हैं। इसके बिना उनके प्रवचन का विशेष प्रभाव नहीं पडता है जिस प्रकार कि लोहा चुम्बक बने बिना अन्य लोहे को आकर्षित नहीं कर सकता है। योग्य महान् व्यक्ति का आचरण/जीवन ही वचन से भी अधिक मुखर होकर

बोलता है तथा उसका प्रभाव भी अधिक पडता है। यथा-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुवर्तते ॥(गीता)

श्रेष्ठ व्यक्ति जो-जो आचरण करते हैं उन-उन आचरण को अन्य सज्जन अनुकरण/प्रमाणित करते हैं। वे जो प्रमाणित करते हैं अर्थात् सिद्ध करते हैं उसके अनुसार दूसरे लोग भी अनुवर्तन करते हैं। इसलिए कहा है **'महाजन येन गता सः पंथा'** महाजन जिस राह पर जाते हैं, जिसका अनुकरण करते हैं, जिसका आचरण करते हैं उसी रास्ते में अन्य लोग भी गमन करते हैं। इसलिए इन्हें नेता कहते हैं।

परोपदेश पाण्डित्या– जिस प्रकार चक्षु स्वयं को नहीं देख पाती है परन्तु दूसरों को देखती है उसी प्रकार अनेक परोपदेशी रहते हैं जो स्वयं को नहीं देखते हैं (स्वयं को आदर्श नहीं बनाते हैं) परन्तु दूसरों के लिए उपदेश झाडते फिरते हैं। यथा-

परोपदेश पांडित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वयमनुष्ठानं कस्यचित् महात्मनः ॥

दूसरों को सदाचार रूपी धर्म का उपदेश देना सुलभ है किन्तु उसी उपदेशानुसार स्वयं आचरण करने वाले जगत में विरले ही कोई सज्जन हैं।

जटिलो मुण्डी लुंचित केशः कषायाम्बरः बहुकृत वेषः।
पश्यन्नपि न च पश्यति मूढः उदर निमित्तं बहुकृत वेषः ॥ 24

जटा बढाने वाले, शिर मुण्डन करने वाले, कषायाम्बरादि अनेक धार्मिक वेषों को धारण करने वाले मूढ लोग जो कि आत्म-धर्म से रहित होने के कारण आत्मा के सत्य धर्म को नहीं देखते हैं वे मूर्ख केवल उदर (पेट)पोषण के लिए अनेक प्रकार के बाह्य वेश को धारण करते हैं। वे केवल स्वार्थ सिद्धि के लिए, यश, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान के लिए, अर्थ शोषण के लिए बाह्य वेश बनाकर धर्मोपदेश करते हैं परन्तु अन्तरंग में बगुला भक्त होते हैं। जैसे कि बक पक्षी बाह्य में शुक्ल होता है एवं जलाशय में एक पैर पर खडा होकर ध्यानी के समान ध्यान करता है परन्तु जब जलाशय के ऊपर मत्स्य आती है तब मछली को ओम् स्वाहा: करता है। इसी प्रकार कुछ पाखण्डी साधु बाह्य से धार्मिक वेश भूषा धारण करते हैं और भोले प्राणियों को अपने चंगुल में फँसाने के लिए अनेक धार्मिक माया जाल फैलाते हैं और संयोग मिलने पर बक पक्षी के समान प्राणियों के धन, जन, जीवन तक का अपहरण कर लेते हैं।

परोपदेश पाण्डित्या सुलभा सुकरा नराः।
धर्मेषु आत्मानुष्ठानं कश्चिदपि महातमानाम्।।

पण्डिताई पाले पडी पूर्व जन्म का पाप।
औरन को उपदेश दे कोरे रह गये आप।।

अर्थात् दूसरों को उपदेश देना सरल-सहज है। कोई-कोई महापुरूष ही स्वयं धर्मानुसार आचरण करते हैं। जो दूसरों को तो उपदेश देता फिरता है परन्तु स्वयं धर्मानुचरण नहीं करता है ऐसे व्यक्ति को कवि ने पापी कहा है। क्योंकि ऐसे व्यक्ति अवचेतन संतुष्ठी/आत्मवंचना में रहता है जिससे वह धोबी के समान तो दूसरों के गन्दे वस्त्र धोता रहता है परन्तु स्वयं गन्दा रहता है अथवा जिस प्रकार गधा चन्दन का बोझ तो ढोता रहता है परन्तु उसका उपभोग नहीं करता है या चम्मच जिस प्रकार विभिन्न भोजन को परोसता रहता है परन्तु उसका स्वाद ग्रहण नहीं करता है उसी प्रकार ऐसे ही परोपदेशी की दशा है। ऐसे व्यक्ति के लिए निम्नोक्त लोकोक्तियाँ हैं- 1) Barking dogs seldom kite (जो गरजते हैं सो बरसते नहीं) 2) Deep river move with silent majesty (अधजल गगरी छलकत जाय, भरी गगरिया चुप्पे जाय) 3) Flow of words is no proof of wisdom (शब्दाडम्बर बुद्धिमत्ता का प्रमाण नहीं है) 4) Fools rush in where angels fear to tread (मूर्ख हर जगह दखल देते हैं।) 5) Fog can not be dispelled by a fan (ओस चाटे

प्यास नहीं बुझती) 6) Fool to others, to himself a sage (अपने मुँह मियाँ मिट्ठू) 7)Great cry little wool (ऊँची दुकान फीका पकवान) 8) ज्ञानं विहिनं बहुजल्पयन्ति (जो ज्ञान से रहित होते हैं वे बहुत बोलते हैं) 9) कथनी करनी भिन्न जहाँ धर्म नहीं पाखण्ड वहाँ 10) Honey in tongue and heart of gall (मुँह में राम, बगल में छुरी), 11) Great many words fill not the purse (बडी-बडी बातों से पेट नहीं भरता।) 12) It is better to do well than to say well कथनी से करनी भली।

चारित्रहीनं शुष्कदर्शनं भोजनं बिना मनमोद्कम्।
विचाररम्यं सरलोपलब्धि न क्षुधा तृप्ति न च शक्ति प्राप्तिः ।।98

(आचार्य कनकनन्दी)

चारित्र से विहीन केवल शुष्कदर्शन वास्तविक लड्डू बिना मनमोदक के समान है, जैसे मनमोदक (मन में तैयार लड्डू) का विचार से रम्य है, जिसकी सरलता से उपलब्धि होती है परन्तु उससे क्षुधा की तृप्ति नहीं होती है तथा शक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। क्षुधा निवारण के लिए लड्डू चाहिए, लड्डू भोजन करने से क्षुधा शान्त होती है परन्तु केवल लड्डू के बारे में तर्क-वितर्क, चर्चा, प्रवचन सतत अनेक समय तक करने पर भी पेट नहीं भरता है। उसी प्रकार

सत्योपलब्धि के लिए सत्य ज्ञान के साथ-साथ सत्य प्राप्ति के लिए ही पुरूषार्थ करना चाहिए। परन्तु पुरूषार्थ विहीन होकर शुष्क तत्त्व चर्चा से सत्य की उपलब्धि नहीं होती है।

लड्डू-लड्डू बोलते जीभ न चखे मिठास।
पानी -पानी बोलते किसकी बुझती प्यास॥
जीवन सारा खो दिया ग्रन्थ पढन्त-पढन्त।
तोते मैना कि तरह नाम रटन्त-रटन्त॥

(विपश्यना बौद्ध पत्रिका)

बहुम्पि चे सहितं भासमानो न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपो व गावो गणयं परेसं न भागवा सामञ्जस्स होति॥18

(धम्म पद)

चाहे कोई भले ही बहुत से ग्रन्थों का पाठ करने वाला हो, किन्तु प्रमाद में पढकर यदि उसके अनुसार आचरण न करें तो वह दूसरों की गायें गिनने वाले ग्वाले की भाति श्रामण्य का अधिकारी नहीं होता।

अध्याय-2

कथनि करनी भिन्न जहाँ-
धर्म नहीं पाखण्ड वहाँ।

न गच्छति बिना पानं व्याधिरौषध शब्दतः।
बिना परोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते॥

(विवेक चूडामणि)

औषध को बिना पिये केवल औषध शब्द के उच्चारण मात्र से रोग नहीं जाता, इसी प्रकार अपरोक्षानुभव के बिना केवल 'ब्रह्म,ब्रह्म' कहने से मुक्त नहीं हो सकता है।

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः।
बाह्यशब्दै कुतो मुक्तिरूक्तिमात्र फलैर्नृणाम्॥

65 (विवेक चूडामणि)

बिना दृश्य प्रपञ्च का विलय किये और आत्म-तत्व को जाने बिना,केवल बाह्य शब्दों से, जिनका फल केवल उच्चारण मात्र ही है,मनुष्यों की मुक्ति कैसे हो सकती है?

अकृत्वा शत्रु संहारमगत्वाखिल भूश्रियम्।
राजाहमिति शब्दन्नो राजा भवितुमर्हति ॥ 66

बिना शत्रुओं का वध किये और बिना सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल का ऐश्वर्य प्राप्त किये "मैं राजा हूँ" ऐसा कहने से ही कोई राजा नहीं हो जाता।

वीणाया रूप सौन्दर्य तन्त्री वादन सौष्ठवम्।
प्रजारञ्जनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते। ।59
वाग्बैखरीशब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥ 60

जिस प्रकार वीणा का रूप-लावण्य तथा तन्त्री को बजाने का सुन्दर ढंग मनुष्यों के मनोरञ्जन का ही कारण होता है, उससे कुछ साम्राज्य की प्राप्ति नहीं हो जाती, उसी प्रकार विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दो की धारावाहिकता, शास्त्र व्याख्या की कुशलता और विद्वत्ता भोग का ही कारण हो सकती है, मोक्ष का नहीं।

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥ 61

परम तत्त्व को यदि न जाना तो शास्त्राध्ययन निष्फल (व्यर्थ) ही है और यदि परम तत्त्व को जान लिया तो शास्त्राध्ययन निष्फल (अनावश्यक) ही है।

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।
अत: प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञातत्त्वमात्मन: ॥ 62

शब्द जाल तो चित्त को भटकाने वाला एक महान् वन है, इसलिए किसी तत्त्वज्ञानी महात्मा से प्रयत्न पूर्वक आत्म तत्त्व को जानना चाहिए।

जहा खरो चंदण भार वाही भारस्यभागी न हु चंदणस्य,
एवं खु नाणी चरणेण हीणो भारस्य भागी न हु सुगईए॥
(शवेताम्बर जैन आगम)

जिस प्रकार गधा चन्दन का भार ढोता है परन्तु चन्दन का उपयोग नहीं कर पाता है उसी प्रकार ज्ञानानुकूल आचरण के बिना ज्ञानी का ज्ञान उसके लिये गधे के बोझ स्वरूप है। "**ज्ञानं भारं क्रियां बिना**" नीति के अनुसार ज्ञान भार स्वरूप है क्रिया के बिना तथा वह ज्ञान उसके लिए भार भूत होगा, परन्तु सुगति के लिए कारण नहीं होगा।

महात्मा गाँधी- अनुभव सिद्ध सिद्धान्त के अनुसार बोलते थे- "चारित्रहीन बौद्धिक ज्ञान सुगन्धित शव के समान है।" प्राण रहित सुगन्धित शव भी शिव स्वरूप नहीं हो सकता है। उसी प्रकार प्रकाण्ड बौद्धिक ज्ञान भी आचरण के बिना जीव को शिवमय,

मंगलमय, पवित्रमय नहीं बना सकता है। उनके ही परम शिष्य भूदान यज्ञ के प्रचारक विनोबा भावे बोलते थे "मैं कण भर आचरण को मनभर चर्चा से भी श्रेष्ठ मानता हूँ।" **Character is higher than intellect**. (बुद्धिमत्तापेक्षा चारित्र श्रेष्ठ है।)

क्रियैव फलदा पुंसां न ज्ञानं फलदं मतम्।
यत:स्त्री भक्ष्य भोगने न ज्ञानात् सुख भाग् भवेत्।।

क्रिया से फल की सिद्धि होती है केवल ज्ञान से नहीं। जैसे स्त्री के ज्ञान से ही इन्द्रिय जनित सुख नहीं मिलता है परन्तु सम्भोग से मिलता है।

गति बिना पथज्ञोऽपि नाप्नोति पुरमीप्सितम्।

पथिक को साङ्गोपांग यथार्थ ज्ञान होते हुए भी वह बिना गमन के इच्छित स्थान में नहीं पहुँच सकता है। उसी प्रकार सत्य का यथार्थ ज्ञान होते हुए भी यदि सत्य प्राप्ति के अनुकूल पुरूषार्थ नहीं करेगें तब सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती है।

चरण गुरण गुण विप्पहीणो, वुड्डइ संबहुपि जाणं तो ॥

सदाचार से रहित बहुतज्ञ, बहुविद् भी संसार रूपी सागर में डूब जाना है।

इस सन्दर्भ में "वन्देमातरम्" के सुविख्यात रचनाकार बंकिम

चन्द्र बाबू की एक बोधप्रद कथा अत्यन्त युक्ति-युक्त है। एक बार एक आधुनिक शिक्षित एवं फैशन वाला व्यक्ति नौका द्वारा नदी पार कर रहा था। स्वयं को ज्ञानी एवं महान् विचार कर नाविक से पूछा- "क्या आप इंगलिश जानते हो?" नाविक ने कहा कि नहीं जानते बाबु ! पुन: उस व्यक्ति ने गर्व से पूछा- "विज्ञान, इतिहास जानते हो क्या?" नाविक ने नम्रता से कहा नहीं जानते बाबु ! इस प्रकार वह व्यक्ति नाविक से अनेक बार अहंकार से पूछता रहा। वह स्वयं को महाज्ञानी मानकर नाविक को अपमान की दृष्टि से देख रहा था। वह बोला " तुम तो विद्या से रहित निरा पशु हो।" इसी प्रकार कथोपकथन करते-करते नौका बीच धार में आ पहुँची। नाविक बोला-"क्या आप नौका चलाने की विद्या जानते हैं?" वह बोला कि नहीं। तब नाविक ने कहा तुम अपनी विपुल विद्या से नदी पार करके दिखाओ तो जाने। मै नौका चलाना छोड देता हूँ। इतना कहकर उसने चप्पू चलाना छोड दिया। जिससे नौका डूबने लगी और बाबु को अपनी रक्षा के लिए नाविक की बहुत अनुनय विनय करनी पडी। तब नाविक बोला आपकी सम्पूर्ण विद्या व्यर्थ है क्योंकि यह एक छोटी सी नौका चलाने में असमर्थ रही। इसी प्रकार अनेक विद्या जानते हुए भी यदि संसार सागर को पार उतरने योग्य आचरण,

पुरूषार्थ नहीं करेंगे तो अपार संसार सागर को पार नहीं कर सकते हैं। केवल पुस्तकीय ज्ञान से मानसिक शुष्क तर्क-विर्तक से संसार को पार करना त्रिकाल में भी असंभव है।

महान् आध्यात्मिक संत कुन्दकुन्दाचार्य जैनियों के उपनिषद समान समयसार में इस विषय में स्वयं में अधिघोषणा करते हुए अनेक ज्ञानवादी किन्तु चारित्रहीन शुष्क आध्यात्मिक चर्चा करने वालों को जागृत करते हुए एवं प्रबोधित करते हुए कहते हैं कि-जैसे बन्धन में बहुत समय से बन्धा हुआ कोई पुरूष उस बन्धन के तीव्र-मंद स्वभाव को और उसके काल को जानता है, यदि वह उस बन्धन को नहीं काटता है तो उस बन्धन से नहीं छूटता है और बन्धन के वश हुआ वह मनुष्य बहुत काल में भी छुटकारा नहीं पाता। उसी प्रकार जीव-कर्म बन्धनों के प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को जानता हुआ भी चिंता करने मात्र से छुटक ारा नहीं पाता, उसी प्रकार जीव भी कर्म बन्ध की चिंता करता हुआ चिंता करने मात्र से मुक्ति नहीं पाता। जिस प्रकार बन्धन में पडा हुआ कोई पुरूष बन्धनों को काट कर अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करता है। उसी प्रकार जीव कर्म बन्ध को काटकर मोक्ष प्राप्त करता है।

बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदि॥ 293

बन्धों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर जो पुरूष बन्धों के प्रति विरक्त होता है वह कर्मों से मुक्त होता है। उदाहरण-तोते के मालिक ने तोते को सिखाया था कि "बिल्ली से सावधान रहो।" तोते ने रट लिया और रोज इसी प्रकार रटता रहा। एक दिन जब बिल्ली तोते को पकड ने के लिए आ रही थी तो तोते ने रट लगाया, "बिल्ली से सावधान रहो।" बिल्ली समीप आई तो भी तोता वहाँ से नहीं भागा और रट लगाता रहा "बिल्ली से सावधान रहो।" बिल्ली तोते को खाने लगी तो तोता बोलता रहा "बिल्ली से सावधान रहो।" इस उदाहरण से स्पष्ट है कि तोते को मालिक का अभिप्राय मालूम नहीं था, इसलिए उसने अभिप्राय के अनुकूल आचरण नहीं किया और केवल शब्दों को रट लिया। इसी प्रकार जो वस्तु स्वरूप को यथार्थ रूप से हृदयांगम नहीं करके मात्र शाब्दिक रटन्त कर लेता है तथा सत्य के अनुकूल आचरण नहीं करता है, उसकी गति उपर्युक्त तोते की गति से कुछ विशेष भिन्न नहीं हो सकती है।

मुनि की मौनाध्ययन वृत्तित्व क्रिया- जिनागम का आदेश है कि

दीक्षा के बाद मौनाध्ययन काल होता है। इस काल में साधु आचार्य, उपाध्याय आदि ज्ञानी गुरू से अध्ययन करते हैं।

कृतदीक्षोपवासस्य प्रवृत्तेः पारणाविधौ।
मौनाध्ययन वृत्तत्वमिष्टमाश्रुतनिष्ठितेः॥ 161

जिसने दीक्षा लेकर उपवास किया है और जो पारणा की विधि में अर्थात् विधि पूर्वक आहार लेने में प्रवृत्त होता है ऐसे साधु का शास्त्र की समाप्ति पर्यन्त जो मौन रह कर अध्ययन करने में प्रवृत्ति होते हैं उसे मौनाध्ययन वृत्तित्व क्रिया कहते हैं।

वाचयमो विनितात्मा विशुद्धकरणत्रयः।
साऽधीयित श्रुतं कृत्स्नमामूलाद् गुरूसन्निधौ॥ 162

जिसने मौन धारण किया जिसकी आत्मा विनय युक्त है, और मन, वचन, काय शुद्ध हैं ऐसे साधु को गुरू के समीप में प्रारम्भ से लेकर शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए।

श्रुतं हि विधिनानेन भव्यात्माभिरूपासितम्।
योग्यतामिह पुष्णाति परत्रापि प्रसीदति॥ 163

क्योंकि इस विधि से भव्य जीवों के द्वारा उपासना किया हुआ शास्त्र इस लोक में उनकी योग्यता बढाता है और परलोक में प्रसन्न रखता हैं।

सर्वे द्वंद्व विर्निमुक्तो व्याख्यानादिषु कर्मसु।
विरक्तो मौनवान्ध्यानी साधुरित्यभिधीयते॥

17 नी.सा.स.

समस्त बाह्य पदार्थों में ''ये मेरा है यह तेरा है इस प्रकार के भावों से रहित, शास्त्र व्याख्यान, उपदेश आदि क्रियाओं से विरक्त मौनव्रत को धारण करने वाले, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान करने वाले इस प्रकार के मुनि साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। तात्पर्य-सम्पूर्णता से बाह्य व्यापार को छोड कर केवल (मात्र)अपने शुद्ध आत्म स्वरूप में लीन रहने वाले अर्थात् ध्यान में तत्पर रहते हैं ऐसे योगी को साधु परमेष्ठी कहते हैं।

समस्त आगम के अध्ययन के साथ-साथ यथायोग्य अन्य धर्मावलम्बियों के शास्त्र और उस काल के अन्यान्य विषयों के ज्ञानार्जन के अनन्तर स्व-पर-विश्वकल्याणार्थे-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुकूल सर्व जीव हितकर, प्रियकर वचन के माध्यम से धर्मोपदेश देना चाहिए।

नूतनस्यात्र शिष्यस्य क्षमाध्ययन शालिनः।
मुख शुद्धायादिकं नैव न यावन्न गुरूणोच्यते॥

20 नी. सा. स.

जहाँ तक गुरूओं द्वारा नहीं कहा जावे यानि गुरू जहाँ तक आदेश नहीं करें वहाँ तक क्षमा, अध्ययन आदिकों से नूतन शिष्यों में मुख शुद्धि आदि नहीं है। अर्थात् जब तक वाक्य शुद्धि उनके नहीं है तब तक वे उपदेश के अयोग्य हैं यानि जब तक गुरू आदेश न करे तब तक उपदेश देने योग्य नहीं है।

भासं विणय विहूणं धम्म विरोही विवज्जए वयणं।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ॥ 88

मूलाचार

अर्थात् वे सत्पुरूष कन्नड, गौडी, लाटी, मराठी आदि भाषा विनय सहित ही बोलते हैं। यानि कठोर स्वर और क्रूर अभिप्राय से रहित वचन बोलते हैं। वे धर्मानुकूल ही भाषण करते हैं। भाषण सुन्दर होने पर भी धर्म विरूद्ध होने पर ऐसे भाषण(वचन) को छोडते हैं। और कलह अरति, शोक, वैर आदि उत्पन्न करने वाले वचनों का त्याग करते हैं यानि ऐसे वचन नहीं बोलते हैं।

जग सुहितकर सब अहितकर श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रमरोगहर जिनके वचन मुख चन्द्रतैं अमृत झरैं॥

इसलिए तो धर्मोपदेशक (आचार्य, उपाध्याय) बनने के पहले मुनि(मौनात् मुनिः) बनकर (साधनात् साधुः) साधु बनते हैं। इसलिए

भी **''मौनं सर्वार्थः साधनम्''** अर्थात् ''मौन से सर्व अर्थ/ प्रयोजन की सिद्धि होती है'' कहा है। मुनि या साधु को योगी कहते हैं। योग से जो युक्त होते हैं उन्हें योगी कहते हैं। **''योगः चित्तवृत्ति निरोधः''** अर्थात् चित्तवृत्ति (चंचलता,प्रवृत्ति) को निरोध करके जो आतम साधना/आत्म-ध्यान करते हैं उन्हें योगी कहते हैं। इसलिए उपदेश देने के पहले स्वयं उपयुक्त बनना चाहिए। स्वयं को योग्य बनाये बिना योग्य फल प्राप्त नहीं होता है। जिस प्रकार कि शिष्य बने बिना शिक्षक; भक्त बने बिना भगवान् ,अंकुर बने बिना वृक्ष नहीं बन सकता है उसी प्रकार स्वोपदेशी बने बिना हितोपदेशी, श्रोता बने बिना वक्ता नहीं बन सकते हैं। जो व्यक्ति बधिर होता है वह मूक भी होता है। पूर्वाचार्य ने कहा भी है-

सोच्चा जाणई कल्लाणं सोच्चा जाणई पापकं।
अभयं पि जाणई सोच्चा जं स्सेयं तं समाचरऊ ॥

अर्थात् धर्म श्रवण से कल्याण (करणीय, पुण्य) और पाप दोनों का ज्ञान होता है। जो श्रेय है उसे ग्रहण करो। अतएव-

कम बोलना अधिक सुनना यह है परम विवेक।
यातें विधिने दिया दो कान जीभ एक ॥

कान दो हैं और दोनों कान सतत खुले रहते हैं परन्तु एक

जीभ है और वह भी दोनों ओंठ और 32 दान्तों के अन्दर बन्द रहती है;'' इस प्राकृतिक विधान से मनुष्य को शिक्षा लेकर अधिक उपदेश सुनना चाहिए और कम उपदेश देना चाहिए। नीति भी है ''**महतां स्वल्पभाषिणं**'' अर्थात् महान् व्यक्ति कम बोलते हैं। इसलिए भगवानों ने 1) सत्य धर्म 2) वचन गुप्ति 3) सत्य वचन 4) भाषा समिति

5) मौनव्रत 6) हित-मित-प्रिय-वचन 7) हितोपदेश आदि सूत्र के माध्यम से उपर्युक्त विषयों का सविस्तार, सकारण, सपरिणाम वर्णन किये हैं। स्व-पर-विश्वकल्याण के इच्छुक व्यक्तिओं को तदनुकूल आचरण करना केवल विधेय ही नहीं है परन्तु अनिवार्य भी है। अन्यथा ''माया मिले न राम'' अतोभ्रष्ट ततो भ्रष्ट उभयतो भ्रष्ट'' आदि उक्ति चरितार्थ होगी -

कथनि करनी भिन्न जहाँ- धर्म नहीं- पाखण्ड वहाँ।

अध्याय-3

परोपदेश कुशल बहुतेरे के कारण, परिणाम एवं निवारण

आत्मोपदेश/स्वोपदेश के साथ-साथ परोपकार की भावना से प्रेरित होकर पर कल्याणार्थे धर्मोपदेश देना विधेय है। यथा-

आदहिदं कादव्वं यदि चेत् परहिदं कादव्वं।
आदहिदं परहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥

सर्व प्रथम आत्म हित करना चाहिए । यदि सभवं हो तो परहित करना चाहिए । आत्महित एवं परहित में से आत्म-हित को प्रधानता से तथा प्राथमिकता से करना चाहिए।

इस सम्बन्धी गहनता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि स्वोपकार स्व-आधीन है परन्तु उपदेश के माध्यम से परोपकार करना स्व-आधीन नहीं है। उपदेश सुनकर दूसरे स्व-पुरूषार्थ से स्वयं को सुधार करें तो उस समय उपदेश उसके लिए कार्यकारी है, हितकारी है अन्यथा कार्यकारी नहीं है, हितकर नहीं है। परोपकार की भावना

मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से सतत रखनी चाहिए परन्तु स्वोपकार को त्यागकर केवल परोपदेश पाण्डित्या नहीं बनना चाहिए। इससे तो स्वोपकार नहीं होता है; साथ ही साथ परोपकार भी नही होता है। इसके साथ-साथ स्वपर को संक्लेश भी होता है। अत:

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उवकुर्वन्यपरस्याज्ञ दृश्यमानस्य लोकवत् ॥

इस श्लोक में आचार्य श्री ने अज्ञानी उसे कहा है जो स्वोपकार को छोडकर, स्व-सुधार को छोडकर केवल दूसरों के सुधार के लिए उपदेश झाडते फिरते हैं। आचार्य श्री लौकिक उदाहरण के माध्यम से यह प्रेरणा देते हैं कि जिस प्रकार लोक में दूसरों के उपकार के पहले स्वोपकार/स्व-कार्य करते हैं उसी प्रकार दूसरों को उपदेश देने के पहले स्वयं को उपदेश देना चाहिए। समग्रता से पूर्णत: स्वोपकार करने का लक्ष्य रखते हुए भी जितना संभव हो उतना अवश्य स्व-सुधार जो करता है वह तो स्व-कर्तव्य से ही दूसरों को प्रायोगिक रूप से उपदेश/प्रेरणा देता है। ऐसा व्यक्ति जब वाचनिक उपदेश देता है तब उसका प्रभाव यथा योग्य दूसरों के ऊपर पडता है तथा ऐसा व्यक्ति ही परोपदेश देने के लिये भी योग्य होता है। जो ऐसे योग्य

नहीं होते हुए भी दूसरों को उपदेश देने के लिए लालायित रहता है उसके कुछ अग्रलिखित कारण- परिणाम एवं निवारण के बारे में वर्णन कर रहा हूँ-

1) आत्म-प्रसिद्धि की प्रवृत्ति- (लोकेषणा, पुत्रेषणा, वित्तेषणा की आपूर्ति) मनुष्य की अनेक मूल प्रवृत्तियों में से एक प्रबलतम मूल प्रवृत्ति है लोकेषणा/लोक प्रसिद्धि/लोक संग्रह। गृहस्थों में लोकेषणा के साथ-साथ वित्तेषणा एवं पुत्रेषणा होती है। ज्ञान वैराग्य से रहित कुछ गृहत्यागी साधु-संत लोकेषणा में ही वित्तेषण एवं पुत्रेषणा की आपूर्ति करते हैं इसलिए उन्हें लोकेषणा अधिक होती है। इसलिए वे बाह्य प्रभावना, धार्मिक-आयोजन, प्रवचन के माध्यम से लोगों को प्रभावित/आकर्षित करके अपनी तृष्णा/अतृप्ति/लालसा /दाह/ अशान्ति को उपशमन करना चाहते हैं। इससे जो लोग प्रभावित होते हैं, लोक संग्रह होता है उनसे उनकी पुत्रेषणा (अनुयायी, भक्त, चेला) तथा वित्तेषणा (धन, साधन) आपूर्ति होती है। इतना ही नहीं इससे अपनी ख्याति, पूजा लाभ प्रसिद्धि, भोग-विलाशिता, फैशन-व्यसन आदि सम्बन्धी अतृप्ति वासना, दमित इच्छाओं को शमित करते हैं। इसके आगे भी इससे अपनी कभी, भूल गलतियों को भी गुप्त- सुप्त रखने के लिए कोशिश करते हैं तथा विपक्षी, शत्रु आदि को क्षति

पहुँचाने में एवं स्व-पक्षी, मित्र, परिवारजनों आदि को लाभ पहुँचाने में सहयोगी बनते हैं। इन सब कारणों से उनकी तृष्णा, आवश्यकता, विषमता, राग-द्वेष तथा शत्रुता-मित्रता की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती जाती है जिससे स्व-पर -विश्व के लिए पहले से भी अधिक अकल्याणकारी बन जाते हैं। यह दुष्प्रवृत्ति व्यक्ति, परिवार, समाज, संघ, संगठन, राष्ट्र से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल में भी पाई जाती है। लोकेषणा, यश-प्राप्ति की इच्छा, प्रसिद्धि की महत्वाकांक्षा सामान्यजन की प्रथम दुर्बलता होती है तथा बडे आदमी की अन्तिम दुर्बलता होती है। सामान्य व्यक्ति अपने फोटो बनाकर, प्रशस्ति पत्र में नाम लिखावा कर, सम्मान में माला-प्रशस्ति पत्र प्राप्त करके संतुष्ट हो जाते हैं परन्तु महत्वाकांक्षी इससे आगे माईक, मंच मण्डप (स्टेज) मनुहार-मुद्रा (Money) मक्कारी, मायाचारी, सम्मान, पूजा, प्रशंसा, प्रसिद्धि आदि प्राप्त करने के लिए तृष्णावान् रहता है। दूसरों के लिए तो उपदेश में उपर्युक्त दुर्गुण, दुर्बल से वचन के लिए कहेगा परन्तु कहते हुए भी, कहते समय भी, कहने का अभिप्राय भी इन दुर्गुण-दुर्बलताओं को प्राप्त करने का रहेगा। यह दुष्प्रवृत्ति / कुप्रवृत्ति **''सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः''** रूपी आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति की विकृति हैं।

2)बडप्पन- प्रभुत्व-वर्चस्व की प्रवृत्तिः आत्म प्रतिष्ठा- मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य में आत्म प्रतिष्ठा की मूलवृत्ति (Instict of self assertion) पाई जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से शुद्ध जीव में प्रभुत्व-ईश्वरत्व(Godness) एक गुण होता है। जिससे जीव स्व- अनन्तज्ञान -दर्शन-सुख-वीर्य-अस्तित्व- प्रमेयत्व-अगुरूलघुत्व आदि अनन्त गुण धर्म-वैभव का स्वामी होता है, जिसका भोग- अनुभव करता है। शुद्ध प्रभुत्व गुण की विकृति ही आत्म प्रतिष्ठा की मूल प्रवृत्ति है। जिस प्रकार कि मद्य(शराब) अंगुर, गुड, चावल आदि की विकृति है जिससे व्यक्ति मद्यमस्त होकर विवेकहीन/विवेक भ्रष्ट होकर अनर्गल कुप्रवृत्ति करता है उसी प्रकार जीव भी कुकर्म-कुसंस्कार-कुभाव से प्रभावित/विवश होकर इस मूलवृत्ति में प्रवृत्त होता है। यथा-

अक्षर परमं ब्रह्म सनातनमजविभु।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्य ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दस्सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिस्सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसा हृया॥
आद्यस्ततस्य विकारोय सोऽहंकार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भूवनत्रयम्।अभिमानाद्रतिस्सा च परिपोष भुपेचुषी॥ (अग्निपुराण 1/6 339)

अर्थात् जो अक्षर, परब्रह्म, सनातन, अज और विभु है, उसका सहज आनन्द कभी-कभी प्रकट हो जाता है, यह अभिव्यक्ति चैतन्य चमत्कार और रसमय होती है, उसके आदि विकार को अहंकार कहते हैं। उसके अहंभाव से अभिमान ममता का आविर्भाव हुआ, जो भुवन में व्याप्त है। ममता संवलित अभिमान से रति की उत्पत्ति हुई। इस कुप्रवृत्ति के कारण जीव समाज में अपने को ''कुछ हम भी है'' ''हम दूसरों से श्रेष्ठ है-ज्येष्ठ है'' ''हमारा भी वर्चस्व है'' इस रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए प्यासा होता है इसके लिए वह दूसरों से अलग चमकने के लिय दूसरों से कुछ हटकर खान-पान, रहन-सहन, आडम्बर, दंभाचार से लेकर परोपदेश कुशल बहुतेरे'' तक करता है। आत्म प्रतिष्ठा के विभिन्न कारणों में से'' परोपदेश पाण्डित्या'' सब से सस्ता, सुन्दर मजबूत, टिकाऊ कारक है। क्योंकि इस में स्व तरफ से कुछ भी खर्चा करना नहीं डरता है इसलिए सस्ता है। लच्छेदार भाषण कान प्रिय होता है अतः सुन्दर है; 'वचन' शब्द तरगें होने से शीघ्र कटता नहीं है इसलिए मजबूत है, और वह शब्द तंरग मस्तिष्क में प्रिंट हो जाती है; इस लिए टि काऊ है। इसलिए तो तीर्थंकर, बुद्ध, धर्म प्रचारक, संगीतकार, क्रान्तिकारी, राजनेता आदि से लेकर आत्मप्रतिष्ठा चाहने वाले इसका

उपयोग करते हैं। तीर्थंकर आदि महापुरूषों की प्रवृति तो महान उपदेश की आपूर्ति के लिए होती है परन्तु आत्मप्रतिष्ठा चाहने वाले की प्रवृत्ति मूल प्रवृत्ति की संतुष्टी के लिए होती है।सामान्य जन लच्छेदार, मनोरंजनकारी भाषण सुनकर भाषण कर्त्ता की प्रशंसा करते हैं, जय-जय कार करते हैं, तालियां बजाते हैं तथा T.V. समाचार पत्र आदि में प्रचारित -प्रसारित होता है। जिससे भाषण कर्ता के आत्मप्रतिष्ठा रूपी गुब्बारा (बैलुन) फूलकर कुप्पा होकर आकाश में ऊपर से ऊपर अन्तहीन उडान भरता रहता है जब तक कि किसी कारण से टांय-टांय फिस्स नहीं हो जाता है।

1)(परिणाम) धन-जन-समय-साधन का दुरूपयोग-तीर्थंकर के धर्मोपदेश के लिए स्वर्ग के देव विशाल-दिव्य, बहुमूल्य समोसरण की रचना करते थे और वहाँ करोडों मनुष्य, पशु-पक्षी, देव बैठ कर उपदेश सुनते थे ; उसी प्रकार महात्मा बुद्ध, साधु -संत, सच्चे क्रान्तिकारी नेता आदि को सुनने के लिये भी यथावत् व्यवस्था होती थी और श्रोता सुनते थे तथा लाभान्वित होते थे। अभी भी ऐसा है और आगे भी होगा जो कि उचित है। यह सब सुयोग्य वक्ता के कारण सहज- सरल रूप से अन्य लोग स्वेच्छा के प्रेरित होकर करते हैं। परन्तु उपर्युक्त अयोग्य वक्ता के लिए ऐसा संभव नहीं है। वे येन-केन

प्रकार से उचित -अनुचित उपाय, साधन, व्यक्ति से लेकर उपदेश के विभिन्न साधनों को जोडते हैं। इनकी साधन-साध्य-पवित्रता नहीं होती है। वे प्रलोभन, दबाव, चन्दा, चिड्डा आदि से यह सब कार्य करते हैं। इन सब कारणों से धन-जन-समय-साधन का दुरूपयोग होता है। जैसा कि वर्तमान के सिनेमा, T.V.के काल्पनिक,अश्लील, हिंसा आदि पाचों पापों तथा सप्त व्यसन युक्त कार्यकम में होते हैं। यदि ये ही कार्यक्रम साधन-साध्य-पवित्रता से होगें तो दुरूपयोग के परिवर्तन में केवल सदुपयोग ही नहीं होगा परन्तु बहुमूल्य विविध लाभकारी भी होगें।

2)असम्यक्कथन, मत-पंथ-भेद, प्रतिस्वर्द्धा,कलहादि- ऐसे परोपदेशी के भाव-व्यवहार-कथन में सम्यक् पना नहीं होने के कारण असत्य, विषमता, अशान्ति, फैलती है जिससे मत भेद, पंथ-भेद-भाव, संक्लेश कारी एवं तनाव पैदा करते हैं।'' देश-विदेश के प्राय:प्रत्येक धर्म में जो विभिन्न मत-मतान्तर हैं उसके अनेक कारणों में से यह एक महत्व पूर्ण कारण है। मत-मतान्तरों की उत्पत्ति का बीज जैसा होगा अंकुर से पुन: बीज भी तदनुकूल होगा। इसलिय पुन: उन मत-मतान्तरों में भेद-भाव, संक्लेश आदि के बीच उत्पत्ति के समय से भी अधिक उत्पन्न होते हैं। इससे पुन: राग-द्वेष, ईर्ष्या-

वैरत्व उत्पन्न होते हैं। परस्पर को नीचा दिखाने के लिए विभिन्न कुविचार, कुकार्य करते हैं; अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा करते हैं। यह दुष्प्रवृत्ति बढते-बढते कलह, तनाव, झगडा,लडाई, युद्ध, हत्या तक पहुँच जाती है। यह विषय सर्व विदित कटुसत्य होने के कारण इनके नामोल्लेख यहाँ नहीं कर रहा हूँ। इसलिए लोकोक्तियाँ हैं।

जिहवा ऐसी बावरी कह गई सरग पाताल।
आप तो कही भीतर गई जूति खात कपाल॥
कहते सो करते नहीं, मुहँ के बडे लवार।
काला मुहँ हो जायेगा,सांच के दरबार॥

3) समीक्षा एवं निवारण

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति॥ 41 इष्टो.

जिस योगी ने स्वस्वरूप में स्वयं के चित्त को स्थिर कर लिया है ऐसा योगी संस्कार वशात् दूसरों के अनुरोध से धर्मादि सम्बन्धी कुछ उपदेश करते हैं तथापि उपदेश के बाद पुन: वे स्वस्वरूप में आ जाते हैं क्योंकि उपदेश करना उनकी मुख्यता नहीं है। समाधि तन्त्र में ग्रथ कर्त्ता ने कहा भी है -

आत्मज्ञानात्परं कार्य, न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाग्कायाभ्यामतत्परः ॥ 50

आत्माकाँक्षी योगियों को आत्म ध्यान से भिन्न किसी कार्य को चिरकाल तक धारण नहीं करना चाहिए। किसी कारण वशात् वचन और काय से कार्य करना पडे तो उसमें आसक्त न होवे।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारवहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः, कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ 47

पृष्ठ 190

देहादि से निवृत्ति होकर जो स्व आत्मा में ही लीन होकर प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहार से दूर होकर ध्यान करता है ऐसे योगी को स्व आत्म ध्यान से एक अनिर्वचनीय परम आन्द उत्पन्न होता है जो आनन्द अन्य में असंभव है।

उपर्युक्त वर्णन में हितोपदेशी का एक संक्षिप्त दिग्दर्शन होता है। मुख्यता से जो जीवन में धर्म के लिए जीता है और परोपदेश को गौणता प्रदान करता है वे ही सच्चे धर्मोपदेश के योग्य है तथा जो परोपदेश को मुख्यता देता है परन्तु धर्म को जीवन में न जीकर केवल जीभ से प्रकट करता है वह वस्तुतः पर-वचनी है, उपदेश देने के लिए अयोग्य है। इसके साथ-साथ हितोपदेशी एवं पर-वचनी में और भी

कुछ यथा क्रम से अग्रलिखित गुण एवं दुर्गुण होते हैं। हितोपदेशी में निस्वार्थ, समता, उदारता, निर्लोभता, विन्रमता, सत्यनिष्टता-सत्यग्राहीपना, दूरदृष्टि, समन्वय, सदाचार-अनुभवपरक, गभीर-गहन-व्यापक ज्ञान, हित-मित-प्रिय-वचन, सरल-सहजता, पवित्रता, क्षमा, संयम, धीरता, शान्ति, सहिष्णुता, भेद-भाव रहित तटस्थभाव, लोकज्ञता, योग्य प्रश्नों का योग्य उत्तर क्षोभ रहित होकर देना, स्व-मत -परमत तथा तात्कालिक ज्ञान से युक्तता, समयानुबद्धता, अनुशासन, प्राज्ञ, वाक्पटुता, (वाग्मी) स्वष्ट-शुद्ध-मधुर-गभीर-शान्ति-शालीन-भद्र-अकलहकारी-अनिंदक वचन से युक्तता आदि गुण होते हैं तो पर- वचनी उपर्युक्त गुणों से विपरीत स्वार्थ, विषमता, संकीर्णता, लोभ, उद्दण्डता, मनमाना, (पूर्वाग्रह)अदूरदृष्टि, असमन्वय आदि दुर्गुण यथा-योग्य होने की संभावना है। वैसे तो पूर्व में भी कुछ वर्णन किया हूँ संदर्भानुसार यहाँ कुछ वर्णन कर रहा हूँ। हितोपदेशी केवल परहित की भावना से प्रवचन करेंगे तो पंडिताई करने वाले स्वार्थ (धन-मान-सम्मान, पंथ-मत, प्रसिद्धि, -Fame. name. money आदि) के लिए करेगें। इसी प्रकार हितोपदेशी समता (उपदेश के लिए आकुलता, व्याकुलता, दन्द-फन्द, भेद-भाव, राग-द्वेष, संकीर्ण पंथ-मतादि से रहित) से तथा सरल- सहज (प्रवचन की व्यवस्था

कोई करने पर और श्रोता स्वेच्छा से आने पर) से प्रवचन करेगें पर पंडिताई/पर-वचनी विषमता (उपदेश के लिए आकुलता-व्याकुलता, दन्द-फन्द, भेद-भाव आदि सहित) से तथा कृत्रिम-असहज (प्रवचन की व्यवस्था स्वयं करवाकर और श्रोता को बुलाकर-यदि यह नहीं हुआ तो क्षोभ, दुःख, विषाद, हीनभावना, उदासीनता से युक्त) रूप से भाषण करेगें। इसी प्रकार अग्र के गुण दोष के बारे में स्व-प्रज्ञा से यथा-योग्य जान लेना चाहिए। आचरण, अनुभव रहित पंडिताई/उपदेश झाडना उसी प्रकार है जिस प्रकार कि बकरे के गले में स्तन (स्तनाकार अंग-न कि यथार्थ) से दूध प्राप्त करना। अतएव उपदेश के पहले उपदेशक को उपदेश देने की अर्हता/योग्यता प्राप्त करने के वाद ही उपदेश देना चाहिए और ऐसे प्रवचन कर्ता के प्रवचन को श्रोताओं को स्वेच्छा से व्यवस्था करके श्रद्धा पूर्वक स्व-पर-विश्वकल्याणार्थ श्रवण करना चाहिए।

ज्ञान-विज्ञान-आध्यात्मिक-गणित आदि के शोध-बोध-आविष्कार-प्रवक्ता-प्रायोगिक कर्ता विश्वगुरू भारत के उपदेशक को तदनुकूल योग्य, गौरवशाली बनकर तद्-योग्य प्रवचन करना चाहिए जिससे स्व-पर-विश्व कल्याण हो। उपदेश केवल वचन से न करके विचार-व्यवहार-आचरण-लेखन से भी उपदेश करें जिससे उसका यथार्थ प्रभावशाली परिणाम प्राप्त हो।

अध्याय-4

योग्य एवं अयोग्य वक्ता तथा श्रोता

समन्वय एवं परिणाम-यथार्थ से

धर्मोपदेशी, धर्मोपदेश, धर्मोपदेश के श्रोता तथा उसके परिणाम का वर्णन उपसंहार रूप से प्राचीन आचार्यों के अनुसार अग्रलिखित है-

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये॥

स्व.सू.(मो.शा.)

I bom to who is the guide on the path to liberation, the destroyers of Moumtains of Karmas and knower of the principles of the univers, So that I may attain these qualities belonging to him.

जो मोक्ष के नेता (उपदेशक) हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेदने वाले हैं, और विश्वतत्त्वों के ज्ञाता हैं, उनकी मैं उनके समान गुणों की प्राप्ति के लिए सदा वंदना करता हूँ।

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।

युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

मेरा वीर जिनेद्र में पक्षपात नहीं है एवं कपिलादि में द्वेष नहीं हैं, किन्तु जिसका वचन युक्ति युक्त, तर्क संगत, परस्पर अविरोध, व इहलोक और परलोक का हितकारी है, उन्हीं का वचन ग्रहण करने योग्य है, अन्य का नहीं।

स्वाध्याय तप के 5 भेद में प्रवचन का क्रम

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः । 25 स्व. सू.

स्वध्याय Study is of 5Kinds. **1) वाचना** Reading. **2)पृच्छना** Questioning Inquiry on a doubtful point. **3)अनुप्रेक्षा** Reflextion or meditation on what is read **4) आम्नाय** Memorising and proper recitation. **5)धर्मोपदेश** Lecturing or delivering sermons.

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश यह पाँच प्रकार स्वाध्याय हैं। 1) **वाचना**-निरपेक्ष भाव से तत्त्वार्थज्ञ के द्वारा पात्र के लिए जो निर्दोष गन्थ वा ग्रन्थ के अर्थ या दोनों (ग्रन्थ और अक्षर इन) का प्रतिपाद किया जाता है वह वाचना है। 2) **पृच्छना**-संशयच्छेद या निर्णय की पुष्टि के लिए ग्रन्थ, अर्थ या उभय के लिए

दूसरे से पूछना पृच्छना है। 3)**अनुप्रेक्षा**- अधिगत (जाने हुए) अर्थ का मन के द्वारा अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। वस्तु के स्वरूप को जानकर संतप्त लोहपिण्ड के समान चित्त को तद्रूप बना लेना और बार-बार मन से उसका अभ्यास करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है। 4) विशुद्ध घोष से पाठ का परिवर्तन करना **आम्नाय** है। आचार पारगामी व्रती का लौकिक फल की अपेक्षा किये बिना द्रुत, विलम्बित आदि उच्चारण दोषों से रहित होकर विशुद्ध पाठ का फेरना, घोष करना आम्नाय स्वाध्याय है। **5)धर्मोपदेश**- धर्मकथा आदि का अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है। लौकिक ख्याति, लाभ आदि दृष्ट प्रयोजन के बिना, उन्मार्ग की निवृत्ति के लिए संशय को दूर करने के लिये तथा अपूर्व पदार्थ के प्रकाशन के लिये धर्मकथा आदि का अनुष्ठान कथन करना धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय कहलाता है। इस सूत्र से भी यह सिद्ध होता है कि पूर्व के चार प्रकार के स्वाध्याय में निष्णात होने के अनन्तर प्रवचन करना चाहिए।

आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप

'णमो आइरियाणं' पञ्चविधमाचारं चरति चारयंतीत्याचार्यः चतुर्दश-विद्यास्थानपारगः एकादशाङ्गधरः आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमय-पारगो वा मेरूरिव निश्चलः,

क्षितिरिव सहिष्णु:, सागर इव बहि:क्षिप्तमल:, सप्तभय विप्रमुक्त: आचार्य: ।

'णमो आइरियाणं' आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार हो। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्यास्थानों के पारंगत हैं, ग्यारह अंग के धारी हैं अथवा आचारांग मात्र का धारी है अथवा तत्कालीन स्व-समय और पर-समय में पारंगत हैं, मेरू के समान निश्चल है, पृथ्वी के समान सहनशील है, जिसने समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहिर फेंक दिया है, और जो सात प्रकार के भय से रहित हैं, उसे आचार्य कहते हैं।

पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो।
मेरूव्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो ॥ 29 धवला पु.1
देस-कुल-जाइं-सुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को।
गयणव्व णिरूवलेवो आइरियो एरिसो होई ॥30
संगह-णुग्गह-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती।
सारण-वारण-सोहण-किरियुज्जुयो हु आइरियो ॥31

प्रवचन रूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात्

परमागम के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरू पर्वत के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंह के समान निर्भय हैं, जो निर्दोष हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्य मूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। जो संघ के संग्रह अर्थात् दीक्षा और अनुग्रह करने में कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागम के अर्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही हैं, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और शोधन अर्थात् व्रतों की शुद्धि करने वाली क्रियाओं में निरन्तर उपयुक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिए।

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

'णमो उवज्झायाणं,' चतुर्दश विद्यास्थानव्याख्यातार: उपाध्याया: तात्कालिक- प्रवचनव्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षण समन्विता: संग्रहानुग्रहादिगुणहीना: ।

'णमो उवज्झायाणं' उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार हो। चौदह विद्यास्थान के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। वे

संग्रह, अनुग्रह, आदि गुणों को छोडकर पहले कह गये आचार्य के समस्त गुणों से युक्त होते हैं।

चोद्दस-पुव्व-महोयहिमहिगम्म सिवत्थिओसिवत्थीणं।
सीलंधराणं वत्ता हाई मुणी सो उवज्झायो ॥ 32

जो साधु चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्ष मार्ग में स्थित हैं, तथा मोक्ष के इच्छुक शीलधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं।

साधु परमेष्ठी का स्वरूप

'णमो लोए सव्व साहूणं' अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः। पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्ति गुप्ताः अष्टादशशील सहस्रधराश्चतुशीतिशतसहस्रगुण-धराश्च साधवः।

'णमो लोएसव्वसाहूणं' लोक अर्थात् ढाई द्वीपवर्ती सर्व साधुओं को नमस्कार हो। जो अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। जो पांच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं।

सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारूद-सूरूवहि-मंदरिंदु-मणी।
खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू ॥ 33

सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी-वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग संग या सब जगह बिना रूकावट के विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्त्वों के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर के समान गम्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरू पर्वत के समान परीषह और उपसर्गों के आने पर अकम्प और अडोल रहने वाले, चन्द्रमाँ के समान शान्ति दायक, मणि के समान प्रभा पुंजयुक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहने वाले, उरग अर्थात् सर्प के समान दूसरे के बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिका आदि में निवास करने वाले अम्बर अर्थात् अकाश के समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करने वाले होते हैं।

योग्य श्रोता-

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद्भृशं भीतवान्
सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्यस्फुटम्।
धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं
गृह्णन्धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः।।7

धर्मकथा सुनने के अधिकारी शिष्य में निम्न गुण होना चाहिए- 1) वह भव्य होना चाहिए, क्योंकि जिसका होनहार भली न हो उसका सुनना कार्यकारी कैसे होगा? 2) उसे 'मेरा कल्याण किसमें है' - इसका विचार होना चाहिए क्योंकि जिसे अपने भले-बुरे का विचार नहीं है, वह सीख (उपदेश) क्यों सुनेगा? 3) वह दुःखों से बहुत अधिक डरता हो, क्योंकि जिसे नरकादि का भय नहीं है, वह पाप छुडाने वाला शास्त्र क्यों सुनेगा? 4) वह सुख का अभिलाषी होना चाहिए, क्योंकि जो भविष्य में सुख चाहेगा, वही धर्म-साधन कराने वाला शास्त्र सुनेगा। 5) उसमें श्रवण आदि बुद्धि का वैभव (बौद्धिक विशेषतायें) होना चाहिए क्योंकि इनके बिना शिष्यपना नहीं होता। वे विशेषतायें निम्नानुसार हैं- क) सुश्रूषा= सुनने की इच्छा ख)श्रवण= सुनना ग)ग्रहण=मनद्वारा जानना घ)धारणा=नहीं भूलना ङ)विज्ञान= विशेषविचार करना च) ऊहापोह=प्रश्नोत्तर करके निर्णय करना छ)तत्त्वाभिनिवेश= तत्त्व-श्रद्धान का अभिप्राय, 6) वह सुखदायक, दयागुणमय, तथा अनुमान और आगम से सिद्ध धर्म को सुन कर, विचार कर ग्रहण करने वाला होना चाहिए, क्योंकि ऐसा ही धर्म शिष्य के लिए कार्यकारी है। 7) वह खोटे हठ(दुराग्रह) से रहित होना चाहिए, क्योंकि हठ करके आपाथापी(अपनी ही बात

स्थापना करना) करने वाले को सीख नहीं लगती। उक्त गुणों से युक्त जीव ही धर्म कथा सुनने का अधिकारी है, उसी का भला होता है। इन गुणों के बिना धर्म कथा सुनना कार्यकारी नहीं होता।

लौकिक जनसंसर्ग असंयम का कारण-

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गंणचयदि जदि संजदो ण हवदि ।।268

प्र.सा.

जिसने सूत्र के अर्थ और पदों को निश्चयपूर्वक जान लिया है, कषायों को शांत कर दिया है तथा तप करने में भी अधिक है ऐसा साधु यदि लौकिक जनों का अर्थात् असंयमियों का भ्रष्ट चारित्र साधुओं की संगति नहीं त्यागता है तो वह संयमी नहीं रह सकता है। जिसने अनेक धर्ममय अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थों को बताने वाले सूत्र के अर्थ और पदों को अच्छी तरह निर्णय करके जान लिया है, अन्य जीवों में व पदार्थों में क्रोधादि कषायों का त्याग करने से तथा भीतर परमशांत भाव में परिणमन करते हुए अपने शुद्धात्मा की भावना के बल से कषायों को शांत कर दिया है, तथा अनशन आदि-6 बाहरी तपों के बल से व अंतरंग में शुद्धात्मा की भावना के सम्बन्ध में विकारों पर विजय प्राप्त करली है, ऐसा तप करने में भी जो श्रेष्ठ है। इन तीन विशेषणों से युक्त

साधु होने पर भी यदि स्वेच्छाचारी लौकिक जनों का संसर्ग न छोडे तो वह स्वयं संयम से छूट जाता है। भाव यह है कि स्वयं आत्मा की भावना होने पर भी यदि अर्नगल व स्वेच्छाचारी मनुष्यों की संगति को नहीं छोडे तो अति परिचय होने से जैसे अग्नि की संगति से जल उष्णपने को प्राप्त हो जाता है, ऐसे वह साधु विकारी हो जाता है।

समीक्षा-परिणत दशा में जीव बाह्य निमित्त से अधिक परिणमन करता है। जैसे-पानी अग्नि के सम्पर्क से उष्ण हो जाता है एवं फ्रीज में रखने पर बर्फ बन जाता है। उसी प्रकार परिणत दशा वाला जीव कुसंगति से धर्मशील सदाचार से रहित हो जाता है एवं सुसंगति से सज्जन बन जाता है । जिसको जो भाता है उसकी संगति करता है। यदि कोई शीतलता चाहता है तो वह शीतल चीज जैसे-जल, चंदन,बर्फ आदि की संगति करेगा और जिसे उष्णता चाहिए वह अग्नि, सूर्यकिरण, गरम पानी आदि की संगति करेगा। इसी प्रकार यदि श्रमण होकर भी लौकिक जन की संगति कर रहा है तो वह अंतरंग से लौकिकता (असंयम, विषयभोग) चाह रहा है। इसीलिए इस गाथा में कुन्दकुन्द देव ने कहा है जो श्रमण होकर भी लौकिक जनों की संगति करता है वह संयमी नहीं है। नीतिकारों ने कुसंगति का फल निम्न प्रकार से कहा है-

पापं वर्धयते चिनोति कुमतिं कीर्त्याङ्गना नश्यति,
धर्मं ध्वंसयतेतनोति विपदं सम्पत्तिमुन्मर्दति।
नीतिं हन्ति विनीतिमत्रकुरूते कोपं धुनीते शमं,
किं वा दुर्जन सङ्गतिर्न कुरूते लोकद्वय ध्वंसिनी ॥ 1

सर्वोपयोगि श्लोक संग्रह पृ.426

कुसंगति पाप को बढाती है, कुमति का संचय करती है, कीर्तिरूपी स्त्री नष्ट होती है, धर्म का विध्वंष करती है, विपत्ति को विस्तृत करती है, नीति और विनय का घात करती है, क्रोध उत्पन्न करती है और शांति को दूर करती है। इस प्रकार दोनों लोकों को नष्ट करने वाली दुर्जन की संगति क्या-क्या नहीं करती है?

दुर्जनजन संसर्गात् साधुजनश्चापि दोषमायाति।
दशमुखकृतापराधे जलनिधिरपि बन्धनं प्राप्तः ॥ 4

दुर्जन मनुष्य की संगति से सज्जन पुरूष भी दोष को प्राप्त होता है, जैसे रावण के द्वारा अपराध किये जाने पर समुद्र भी बन्धन को प्राप्त हुआ।

अणुरप्यासतां सङ्गः सद्गुणं हन्ति विस्तृतम्।
गुण रूपान्तरं याति तक्रयोगाद् यथा पयः ॥ 6

दुर्जन का थौडा भी संसर्ग विस्तृत सद् गुण को नष्ट कर देता है, जैसे कि तक्र-छाच के योग से दूध अन्य गुण और अन्य रूप को प्राप्त हो जाता है।

मलिनयति कोटिपात्रं दहति गुणं स्नेहमाशु नाशयति।

अमले मलं प्रयच्छति दीप ज्वालेव खलमैत्री।।10

दुर्जन की मित्रता दीपक की ज्वाला के समान करोडों पात्र को मलिन कर देती है,गुण (पक्ष में बत्ती)को जलाती है, स्नेह,(पक्ष में तेल) को शीघ्र नष्ट करती है और निर्मल पुरूष में मल -दोष प्रदान करती है अर्थात् निर्दोष को सदोष बना देती है। कुन्दकुन्द देव ने दर्शन पाहुड में कहा है-

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्त भट्ठा य।

एदे भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ।।8

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट हैं और चारित्र से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टों में विशिष्ट भ्रष्ट हैं अर्थात् अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा अन्य मनुष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं।

लौकिक जन की परिभाषा करते हुए आचार्य जयसेन ने कहा है जो स्वेच्छाचारी है वह लौकिक जन है अर्थात् जो आगम, नीति, आदर्श, मर्यादाओं का उल्लंघन करके स्वेच्छा से विचार करता हो, बोलता हो, आचरण करता हो वह स्वेच्छाचारी है। ऐसे जो स्वेच्छाचारी होते हैं वे दूसरों के उपदेश को सत्यार्थ मार्ग को भी जानते नहीं हैं, मानते नहीं हैं, न ही आचरण करते हैं। जैसें प्रबल वेग

में बहती हुई नदी उस श्रोत में गिरने वाले प्राणीयों तथा तटस्थ वृक्ष आदि को भी बहाकर ले जाती है उसी प्रकार स्वेच्छाचारी व्यक्ति दूसरों को भी स्वेच्छाचार में प्रवृत्ति कराता है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि व्यक्ति अपने परिसर के व्यक्तियों को भी स्वयं के समान बनाना चाहता है। जैसे-जो मद्यपायी होता है उसकी संगति में आने वाले को मद्य पिलाता है तथा जो धूम्रपायी होता है वह अपने मित्रों को धूम्रपान करवाता है। इसलिए तो व्यसन सीखने का एक कारण व्यसनी की संगति भी है। अभी प्रायोगिक रूप में देखा जाता है कि क्लब, होस्टल,परिवार, मित्रमंडली, प्रीतिभोज आदि में अधिकांश व्यक्ति जिस आचार, विचार, खान-पान के होते हैं वे दूसरों को भी उसी प्रकार बनाना चाहते हैं। अधिकांश व्यक्ति अशुद्ध खान-पान वाले हैं। वे दूसरों को भी अपने समान बनाना चाहते हैं और वह नहीं बनता है तो उसकी कटु आलोचना करते हैं। अधिकांश दुर्बल मानसिक, दृढ संकल्प हीन व्यक्ति अशुद्ध आचार-विचार वालों के जैसे ही बन जाते हैं। इतना ही नहीं दुर्जन संगति से वाद-विवाद-कलह आदि भी बढता है क्योंकि सबकी विचार धारा अलग-अलग होती है और जब नहीं मिलती तो उसमें टकराव व संघर्ष होता है। इसलिए नियमसार में कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है-

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहि वज्जिज्जो ।।156

नाना प्रकार के जीव हैं नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं इसलिए स्व और पर समय सम्बन्धी वचन विवाद वर्जित करना चाहिए।

लद्धूणं णिहि एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणते।
तह णाणी णाणणिहिं, भुजेइ चइतु परतत्तिं ॥ 157

जैसे कोई निर्धन निधि को पाकर सुजनरूप से गुप्तरूप से उसके फल का अनुभव करता है वैसे ही ज्ञानीजन परिजनों के समुदाय को छोडकर ज्ञान निधि का अनुभव करता है। समाधितंत्र में भी पूज्यपाद स्वामी ने लौकिक जन का संसर्ग एवं सम्भाषण त्याग करने को कहा है। यथा-

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्ग जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥ 72

मनुष्यों से अनेक प्रकार की बातें सुनने में मिलती हैं उन बातों के सुनने से आत्मा में हलन-चलन होती है, उससे मन में विविध प्रकार के क्षोभ या चित्त विक्षेप होते हैं। इस कारण से आत्मध्यान करने वाला मुनि अन्य मनुष्यों के साथ सम्बन्ध रखना छोड दें।

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥ 58

मूर्ख बहिरात्मा जीव बिना बतलाये मेरे आत्मस्वरूप को जिस तरह नहीं जानते हैं उसी प्रकार बतलाने पर भी आत्मस्वरूप को नहीं जानते इस कारण उन मूर्ख बहिरात्माओं के लिए मेरा आत्मा का शुद्धस्वरूप समझाने का परिश्रम व्यर्थ है।

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्वसंस्थितिः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्वं निजात्मनः ॥36

जिसके चित्त में राग-द्वेष आदि का क्षोभ नहीं है तथा हेय तथा उपादेय तत्त्व विचार में जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा आत्मध्यानी मुनि अकेले निर्जन स्थान में आलस्य, तथा निद्रा त्याग कर सावधानी से अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप के चिन्तन का अभ्यास करें।

अयोग्य श्रोता

सेलघण-भग्गघड-अहि-चालणि-महिसाऽवि-जाहय-सुएहि।
मट्टिय-मसय-समाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा ॥62 ध.पु.1
दढ-गारव-पडिबद्धो विसयामिस-विस-वसेण घुम्मंतो।
सो भट्ट-बोहि-लाहो भमइ चिरं भव-वणे मूढो ॥ 63

1)शैलघन, भग्नघट, अहि (सर्प), चालनी, महिष, अवि

(मेंढा), जाहक (जोंक), शुक, माटी और मशक के समान श्रोताओं को जो मोह से श्रुत का व्याख्यान करता है, वह मूढ दृढ रूप से ऋद्धि आदि तीनों प्रकार के गारवों के आधीन होकर विषयों की लोलुपतारूपी विष के वश से मूर्च्छित हो, बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति से भ्रष्ट होकर भव-वन में चिरकाल तक परिभ्रमण करता है। शैलनाम पाषाण का है और घन नाम मेघ का है। जिस प्रकार पाषाण, मेघ के चिरकाल तक वर्षा करने पर भी आर्द्र या मृदु नहीं होता है, उसी प्रकार कुछ ऐसे भी श्रोता होते हैं, जिन्हें गुरूजन चिरकाल तक भी धर्मामृत के वर्षण या सिंचन द्वारा कोमल परिणामी नहीं बना सकते हैं ऐसे श्रोताओं को शैलघन श्रोता कहा है। 2) भग्नघट फूटे घडे को कहते हैं। जिस प्रकार फूटे घडे में ऊपर से भरा गया जल नीचे की और से निकल जाता है भीतर कुछ भी नहीं ठहरता, इसी प्रकार उपदेश को एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देते हैं उन्हें भग्नघट श्रोता कहा है। 3)अहि नाम सर्प का है। जिस प्रकार मिश्री-मिश्रित -दुग्ध के पान करने पर भी सर्प विष का ही वमन करता हैं,उसी प्रकार जो सुन्दर , मधुर और हितकर उपदेश के सुनने पर भी विष वमन करते हैं अर्थात् प्रतिकूल आचरण करते हैं, उन्हें अहि समान श्रोता समझना चाहिए। 4) चालनी जैसे उत्तम आटे को नीचे गिरा देती है और भूसा या चोकर को अपने भीतर

रख लेती है, उसी प्रकार जो उत्तम सार युक्त उपदेश को बाहर निकाल देते हैं और नि:सार तत्त्व को धारण करते हैं वे चालनी समान श्रोता हैं। 5) महिषा अर्थात् भैंसा जिस प्रकार जलाशय से जल तो कम पीता है परन्तु बार-बार डुबकी लगाकर उसे गंदला कर देता है, उसी प्रकार जो श्रोता सभा में उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं पर प्रसंग पाकर क्षोभ या उद्वेग उत्पन्न कर देते हैं वे महिषा समान श्रोता हैं। 6) अवि नाम मेष (मेंढा) का है। जैसे मेंढा पालने वाले को ही मारता है, उसी प्रकार जो उपदेश दाता की ही निंदा करते हैं और समय आने पर घात तक करने को उद्यत रहते हैं उन्हें अवि के समान श्रोता समझना चाहिए। 7) जाहक नाम सेही आदि अनेक जीवों का है पर प्रकृत में जोंक अर्थ ग्रहण किया गया है। जैसे जोंक को स्तन पर भी लगावे तो भी वह दूध न पीकर खून ही पीती है,इसी प्रकार जो उत्तम आचार्य या गुरू के समीप रहकर भी उत्तम तत्त्व को तो ग्रहण नहीं करते, अधम तत्त्व को ही ग्रहण करते हैं वे जोंक के समान श्रोता हैं। 8) शुक नाम तोते का है जो कुछ सिखाया जाता है वह सीख तो जाता है पर उसे यथार्थ अर्थ प्रतिभासित नहीं होता, उसी प्रकार उपदेश स्मरण कर लेने पर भी जिस के हृदय में भाव-भासना नहीं होती है वे शुक समान श्रोता हैं।

9) मिट्टी जैसे जल के संयोग मिलने पर तो कोमल हो जाती है, पर

जल के अभाव में पुन: कठोर हो जाती है, इसी प्रकार जो उपदेश मिलने तक तो मृदु-परिणामी बने रहते हैं और बाद में पूर्ववत् ही कठोर -हृदय हो जाते हैं वे मिट्टी के समान श्रोता हैं। 10) मशक अर्थात् मच्छर कानों में आकर गुनगुनाता है, चरणों में गिरता है किंतु अवसर पाते ही काट खाता है, उसी प्रकार जो श्रोता पहले तो गुरू या उपदेश-दाताओं की प्रशंसा करेंगे, चरण-वन्दना भी करेंगे, पर अवसर आते ही काटे बिना न रहेंगे उन्हें मशक के समान श्रोता समझना चाहिए । उक्त सभी प्रकार के श्रोता अयोग्य हैं उन्हें उपदेश देना व्यर्थ हैं।

28वां धर्मदर्शन विज्ञान दर्शन प्रशिक्षण शिविर (ग.को.पुं.का) की शोभायात्रा का एक दृश्य

आ. कनकनन्दी ससंघ को आगामी 2007 के चातुर्मास के लिए श्रीफल अर्पण करके अनुरोध करते हुए सकल जैन समाज तथा जयन्तीलाल सेठ (शिविर समापन के अवसर पर)

Seema Printers, # 0294-3295406